के सिवाय और क्या कहा जासकता है ? । लेकिन फिरभी भारतभूमि के अभ्युदय की अन्तःकरण से इच्छाकरनेवाले पुरुषसिंहों की सहायता में अपना कल्याण समझकर किञ्चिन्मात्र (थोड़ासा) जैनतत्त्व आपलोगों के सामने उपस्थित करता हूँ—

जैन सिद्धान्त में चार अनुयोग (कथन) है।

१ द्रव्यानुयोग, २ गणितानुयोग, ३ चरणकरणानुयोग ४ धर्मकथानुयोग। इन चारों अनुयोगों की आवश्यकता प्राणियों के कल्याणार्थ तीर्थंकरों ने कही है।

(१) द्रव्यानुयोग याने द्रव्य की व्याख्या।

द्रव्य के छः भेद हैं, जिनका जैनशास्त्र में षड् द्रव्य के नाम से व्यवहार होता है। उनके नाम ये हैं:—जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।

१ जीवास्तिकाय का लक्षण यह है:—

"यः कर्त्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्त्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः" ॥१॥

कर्मों को करनेवाला, कर्म के फल को भोगनेवाला, किये हुए कर्म के अनुसार शुभाशुभ गति में जानेवाला और सम्यग्

ज्ञानादि के वश से कर्मसमूह को नाशकरनेवाला आत्मा याने जीव है। जीव का इससे पृथक् और कोई दूसरा स्वरूप नहीं है, इसीको जीवास्तिकाय कहते हैं। यहाँ पाँचो द्रव्यों के अस्ति काय का तात्पर्य यह है कि अस्ति, प्रदेश (विभाग रहित वस्तु) का नाम होने से, प्रदेशों से जो कहा जाय याने व्यवहृत हो।

(२) धर्मास्तिकाय अरूपी पदार्थ है, जो जीव और पुद्गल दोनों की गति में सहायक है। जीव और पुद्गल में चलने की सामर्थ्य है लेकिन धर्मास्तिकाय की सहायता के विना फलीभूत नहीं हो सकते; जैसे मत्स्य (मछली) में चलने की सामर्थ्य है लेकिन पानी के विना नहीं चल सकती। धर्मास्तिकाय के १स्कन्ध २देश ३प्रदेश ये तीन भेद कहे गये हैं।

१ स्कन्ध, एक समूहात्मक पदार्थ को कहते हैं; २ देश, उसके नाना भागों को कहते हैं; ३ प्रदेश, उसको कहते हैं कि जिसमें फिर विभाग न होसके।

(३) अधर्मास्तिकाय एक अरूपी पदार्थ है जो जीव और पुद्गल के स्थिर रहने के लिये सहायक है। जैसे मछली को स्थल अथवा पथिक (मुसाफर) को वृक्ष की छाया सहायक है। यदि यह पदार्थ न हो तो जीव और पुद्गल दोनों क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकते। इन दोनों पदार्थों (धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय) को लेके जैनशास्त्र

में लोक और अलोक की व्यवस्था युक्तिपूर्वक कही गई है। जहाँतक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है वहाँ ही तक लोक है, उसके आगे अलोक है। अलोक में आकाश के अतिरिक्त कुछ पदार्थ नहीं है। इसलिये मोक्षगामी की स्थिति* लोक के अन्त में बतलाई गई है; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों पदार्थ, लोक के आगे नहीं हैं इसीलिये अलोक में किसी की गति भी नही है। अत एव लोक के अन्त में ही जीव स्थिर रहता है। यदि ऐसा नही मानें तो कर्ममुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होनेसे कहीं भी विश्राम न हो, बल्कि बराबर ऊपर चलाही जाय; इसीलिये जो लोग दो पदार्थोंको नहीं मानते, वे मोक्ष के स्थान की व्याख्या में संदिग्ध रहते है और स्वर्ग के तुल्य नाशमान पदार्थ को मोक्ष मानते हैं। यदि पूर्वोक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों पदार्थों को मानलें तो जरा भी लोक की व्यवस्था में उन्हे हानि न पहुँचे। अधर्मास्तिकाय के भी स्कन्ध, देश, प्रदेश ये भेद माने गये हैं।

---

* लोक प्रकाश के पृष्ठ ५७ मे लिखा है–

यावन्मात्रं नरक्षेत्रं तावन्मात्रं शिवास्पदम्।
यो यत्र म्रियते तत्रैवोर्द्ध्वं गत्वा स सिद्ध्यति ॥८३॥
उत्पत्त्योर्द्ध्वं समश्रेण्या लोकान्तस्तैरलङ्कृतः।

(४) आकाशास्तिकाय भी एक अरूपी पदार्थ है, जो जीव और पुद्गल को अवकाश (स्थान) देता है; वह लोक और अलोक दोनों मे है। यहां पर भी स्कन्धादि पूर्वोक्त तीनों भेद हैं।

(५) पुद्गलास्तिकाय संसार के सभी रूपवान् जड़ पदार्थों को कहते हैं। इसके स्कन्ध १ देश २ प्रदेश ३ और परमाणु ४ नाम से चार भेद हैं। प्रदेश और परमाणु में यह भेद है कि–जो निर्विभाग भाग, साथ में मिला रहे उसे प्रदेश मानते हैं और वही यदि जुदा हो तो परमाणु के नाम से व्यवहार में लाया जाता है।

(६) काल द्रव्य एक कल्पित पदार्थ है। जहां सूर्य तारादिगण चलस्वभाववाले है वहीं काल का व्यवहार है। काल दो प्रकारका है–एक उत्सर्पिणी, और दूसरा अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी उसको कहते हैं जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चारो की क्रम २ से वृद्धि होती है; और अवसर्पिणी काल मे पूर्वोक्त पदार्थों का क्रम २ ह्रास होता है। उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल में भी हर एक के छः छः विभाग हैं; जिनको आरा कहते हैं। अर्थात् एक कालचक्र में छः उत्सर्पिणी के क्रम से आरा हैं और अवसर्पिणी के छः व्युत्क्रम से (उलटे) आरा हैं। इन्हीं दोनों कालों में चौवीस २ तीर्थंकर होते है

और जो उत्सर्पिणी में चौवीस तीर्थंकर होते हैं, वे मुक्तजीव फिर उलटकर किसी उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी में नहीं आते और हर एक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी में उनसे पृथक् २ नये जीव तीर्थंकर होते हैं; ऐसा काल का क्रम अनादि से चला आता है।

जहां सूर्यतारादिगण निश्चल हैं, वहां काल का व्यवहार नहीं है; इसलिये काल द्रव्य कल्पित याने (औपचारिक) द्रव्य है। अतद्भाव में तद्भाव (अन्य में अन्यज्ञान) उपचार कहलाता है। इसके स्कन्धादि भेद नहीं हैं।

इन पूर्वोक्त षड् द्रव्यों की व्याख्या को द्रव्यानुयोग कहते हैं। जिसका विस्तार सम्मतितर्क, रत्नाकरावतारिका, प्रमाण-मीमांसा, अनेकान्तजयपताका वगैरह ग्रन्थों में और भगवत्यादि सूत्रों में किया हुआ है; उनके देखने से स्पष्ट मालूम होगा।

(२) चरणकरणानुयोग; जिसमें चारित्र धर्म की व्याख्या अतिसूक्ष्म रीति से की है; उसे आगे चलकर दो प्रकार के धर्म के प्रकरण में कहेंगे। इसका विस्तार आचाराङ्ग, सूत्र-कृताङ्ग वगैरह में किया हुआ है।

(३) गणितानुयोग का अर्थ गणित की व्याख्या है जो लोक में असङ्ख्य द्वीप और समुद्र हैं, उनकी रीति भाँति और

उनके प्रमाण वगैरह का अच्छी रीति से इसमें वर्णन है। इस विषय को सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, लोकप्रकाश, क्षेत्रसमास, त्रैलोक्यदीपिका वगैरह ग्रन्थों से जिज्ञासु पुरुष देखलेवें।

(४) धर्मकथानुयोग में भूतपूर्व महापुरुषों के चरित्र हैं; जिनके मनन करने से जीव, अत्यन्त उच्च श्रेणी पर पहुँच सकता है। वे चरित्र ज्ञाताधर्मकथा, वसुदेवहिण्डी, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचारित्र आदि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक कहे हुए हैं।

जैन साहित्य के विषय में पाश्चात्य विद्वान्* भी मुक्तकण्ठ

---

* As I was told that Jain Literature resembled very much that of the Bauddhas But I was aware very soon of the fact, that Jain Literature is *by far* superior to that of the Buddhists, and the more I became acquainted with Jain Religion and Jain Literature, the more I loved them

Some publications I had first seen had given me the wrong idea, that Jain narrators were as awck-ward as Buddhist ones. But I was soon aware of the fact that I was completely mistaken with this view, and that, on the contrary it is a merit merely of *Jain* authors to have cultivated, in Sanskrit as well, as in Prakrit, in prose and in verse an easy and natural style which makes their tales delightful to the reader, whereas the prose of बाण, सुबन्धु and other brahmanical authors of a later time, is too artificial in the outer form to give a real satisfac-tion on the *contents* of their productions

BY DR JOHANNES HERTEL

DOEBELN, GERMAN EMPIRE

होकर प्रशंसा करते हैं कि जैनाचार्य निष्पक्षपाती और यथार्थ लेखक थे। इस प्रशंसा का कारण यह है कि जो निःस्पृहता से काम किया जाता है वहीं सर्वोत्तम होता है; यह बात सब को विदित ही है। जो जैन महामुनि आज भी अपना आचार, विचार; देश, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार रख सके हैं उसका मूल कारण जिनदेव का मोक्षपरक उपदेशही है। सभी जिनदेव धर्मशूर क्षत्रियकुलही में उत्पन्न हुए हैं क्योंकि क्षत्रिय सब कहीं शूरता (वीरता) करते हैं; कारण यह है कि उनका वह वीर्य, उसी प्रकार का है। इसलिये जैनधर्म में क्षत्रियकुल सर्वोत्तम बताया गया है। प्रायः करके जैनधर्म के पालक और उपदेशक बहुत से क्षत्रिय ही थे।

क्षत्रिय केवल अपने पराक्रम के सिवाय दूसरे की कभी दरकार नहीं रखते हैं। शूरता के विना देश की उन्नति और जाति की उन्नति, तथा धर्मोन्नति आदि कोई भी कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रकारों ने स्वयं कहा है कि "जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा" अर्थात् जो कर्म में शूर हैं वे ही धर्म में भी शूर *है। किन्तु धर्माधिकार में ब्राह्मण, वैश्य,

---

* स्थानाङ्गसूत्र के पत्र २७६ में लिखा है—

चत्तारि सूरा पण्णत्ता। तं जहा-खन्तिसूरे, तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे। अर्थात् शूर चार प्रकार के होते हैं— १ क्षमाशूर, २ तपशूर, ३ दानशूर तथा ४ युद्धशूर।

शूद्र आदि सब की समान सत्ता है और उपदेशकभी हो सकते है। आत्मसत्ता के प्रकट होनेपर चारों वर्णों की समान सत्ता मानी गई है, क्योंकि किसी प्रकार का पक्षपात जैन-शास्त्र में नही है। केवल क्षत्रियकुल में तीर्थकरों के होने से वह कुल प्रतापी माना गया है, यदि क्षत्रिय भी धर्मविरुद्ध आचरण करेगा तो जरूर अधोगति में जायगा।

बहुत से मनुष्यों की ऐसी समझ है कि जैनधर्मी मनुष्यों ने 'अहिंसा परमो धर्म' की व्याख्या को विशेष बढ़ाकर युद्ध आदि कार्य में हमारे देश की अत्यन्त अवनति कर डाली है। इसबात का हम उत्तर आगे चल के अहिंसाप्रकरणस्थ राजा भरत के दृष्टान्त में देंगे।

पूर्वोक्त चारो अनुयोगों में संपूर्ण जैनधर्म का तत्त्व परिपूर्ण है; इन्हीं अनुयोगों की सिद्धि के लिये 'प्रमाण' और 'नय' दो पदार्थ माने गये हैं। क्योंकि प्रमेय (ज्ञेय) वस्तु की सिद्धि, विना प्रमाण* तथा नय के नही हो सकती; इसी से कहा हुआ है कि "प्रमाणनयैरधिगम."। प्रमाण सर्वांश

* प्रमाण की व्याख्या इस रीति से है—'प्रकर्षेण संशयाद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत् प्रमाणम्' अर्थात् संशय, विपर्यय (वैपरीत्य) आदि से रहित वस्तु का जिससे निश्चय हो उसे प्रमाण कहते हैं।

का और नय एकांश का ग्राहक है। प्रमाण के दो प्रकार हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष में भी दो भेद हैं—एक सांव्यवहारिक और दूसरा पारमार्थिक। उसमें भी सांव्यवहारिक, इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक भेद से दो प्रकार का होता है। स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को इन्द्रियनिमित्तक प्रत्यक्ष कहते हैं। 'मन' जिसकी जैनशास्त्रकारों ने 'नोइन्द्रिय' ऐसी संज्ञा रक्खी है उससे उत्पन्न हुए ज्ञान को अनिन्द्रियनिमित्तक प्रत्यक्ष, या मनोनिमित्तक प्रत्यक्ष कहते हैं।

बौद्धों ने नेत्र और कर्ण को छोडकर बाकी इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना है और नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और साङ्ख्यवादी सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं, किन्तु हमारे जैनशास्त्र में नेत्र इन्द्रिय को छोडकर अन्य सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना है। इस बात का वर्णन रत्नाकरावतारिका वगैरह ग्रन्थों में अतिविस्तारपूर्वक युक्तियुक्त किया हुआ है, परन्तु यहां थोड़े श्लोकों * की व्याख्या करके जैनदर्शन के मन्तव्य का दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

---

* रत्नाकरावतारिका के पृष्ठ ९१ में लिखा हुआ है—
चक्षुरप्राप्यर्थीकृत् व्यवधिमतोऽपि प्रकाशकं यस्मात्।
अन्तःकरणं यद्वद्व्यतिरेके स्यात् पुना रसना॥ ६८॥

अन्तःकरण की तरह व्यवहित (ढके हुए) पदार्थ के प्रकाशक होने से चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानाजाता है और जो अप्राप्यकारी नहीं है वह व्यवहित का प्रकाशक भी नहीं है, जैसे जिह्वाइन्द्रिय। यहां पर यदि ऐसी शङ्का उत्थित हो कि चक्षुरिन्द्रिय व्यवहित पदार्थ की प्रकाशक कैसे है? क्योंकि वृक्षादि से व्यवहित पदार्थ को तो प्रकाश नहीं करती, इसलिये यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। इस पर जैनशास्त्रकारों का यह समाधान है कि कॉच, विमल जल और स्फटिक-रत्न की दीवाल के व्यवधान रहनेपर भी चक्षुरिन्द्रिय से वस्तु का ज्ञान अवश्य होता है; परन्तु योग्यता न होने से वृक्षादि से व्यवहित पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि

अथ द्रुमादिव्यवधानभाजः प्रकाशकत्वं ददृशे न दृष्टौ।
ततोऽप्ययं हेतुरसिद्धतायां धौरेयभावं विभरास्वभूव ॥६९॥
एतन्न युक्तं शतकोटिकाचस्वच्छोदकस्फाटिकभित्तिमुख्यैः।
पदार्थपुञ्जे व्यवधानभाजि संजायते किं नयनान्न संवित्? ॥७०॥

और पृष्ठ ९२ में:—

तस्थौ स्थेमा तदस्मिन् व्यवधिमदमुना प्रेक्ष्यते येन सर्वं
तत्सिद्धा नेत्रबुद्धिर्व्यवधिपरिगतस्यापि भावस्य सम्यक्।
कुड्यावष्टब्धबुद्धिर्भवति किमु न चेन्नेदृशी योग्यताऽस्य
प्राप्तस्यापि प्रकाशे प्रभवति न कथं लोचनाद्गन्धबुद्धिः? ॥७५॥
किंवा न प्रतिभासते शशधरे कर्मापि तद्रूपवत्?
दूराच्चेद्विलसत् तदस्य हृदये लक्ष्येत किं लाञ्छनम्?।
तस्माच्चक्षुषि योग्यतैव शरणं साक्षी च नः प्रत्यय-
स्तत् तर्कप्रगुण! प्रतीहि नयनेष्वप्राप्यधीकर्तृताम् ॥७६॥

योग्यता को स्वीकार न करें तो चक्षु के प्राप्यकारी माननेवालों को, चक्षु से गन्ध का ज्ञान क्यों नहीं होता? एवं चन्द्र के भीतर उसके रूप की तरह उसकी क्रिया का भी चक्षुरिन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?। यदि उसके प्रत्यक्ष न होने का कारण दूरता कहियेगा, तो फिर उसके लाञ्छन [कलङ्क] का भी प्रत्यक्ष न होना चाहिये। इसलिये योग्यता छोड़कर दूसरा कोई कारण नही माना जा सकता।

यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, जो बाह्येन्द्रियों की सहायता लेता है, अपारमार्थिक प्रत्यक्ष, अथवा पारमार्थिक परोक्ष माना जाता है। उमास्वाति वाचक ने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में इसीरीति से विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से भिन्न, याने इन्द्रिय वगैरह की सहायता के विना, केवल आत्माद्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। उसके दो भेद हैं; एक विकल और दूसरा सकल। विकल के भी अवधि * और मनःपर्यय ‡ के नाम से दो भेद हैं।

केवलज्ञान § को सकल कहते हैं।

---

* पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, अन्धकार और छाया आदि व्यवहित रूपी द्रव्यों को भी प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान, अवधि-ज्ञान कहलाता है।

‡ मनुष्यक्षेत्र में रहनेवाले सभी मनवाले जीवों के मन-रूप द्रव्य के पर्यायों को प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञान को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

§ भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में होनेवाले तीनों लोक के पदार्थों का प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान, केवलज्ञान कहा जाता है।

परोक्ष ज्ञान में पांच भेद माने जाते हैं। १ प्रत्यभिज्ञान, २ स्मरण, ३ तर्क, ४ अनुमान, ५ आगम। इसमें प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, तर्क इन तीनों को कोई २ प्रमाण में दाखिल नहीं करते; लेकिन हमारे जैनशास्त्रकारों ने इसपर प्रबल युक्ति दिखाकर अति उत्तम रीति से विवेचना की है; किन्तु यहाँ समय के अति संकुचित होने से हम उसे कह नहीं सकते।

उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान में किया गया है।

नय वह पदार्थ है, जिसका संक्षिप्त लक्षण हम ऊपर कह चुके हैं; उसका शास्त्रकारों ने इसरीति से लक्षण किया है:—

'नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांश तदितरांशौदासीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय.'

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चित किये अर्थ के अंश अथवा बहुत से अंशों को ग्रहण करे और बाकी बचे अंशों में उदासीन रहे, याने इतर का निषेध न करे, ऐसा, वक्ता का अभिप्रायविशेष, 'नय' कहलाता है। यदि इतर अंश का उदासीन न होकर निषेध ही करे, तो नयाभास कहा जायगा।

नय के भेद—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत रूप से सात प्रकार के हैं।

उनमें १ नैगमनय वह कहलाता है, जो द्रव्य और पर्याय इन दोनों को सामान्य-विशेष-युक्त मानता हो; क्योंकि वह कहता है कि सामान्य विना विशेष नहीं होता और विशेष विना सामान्य रह नहीं सकता।

२ संग्रहनय, हर एक वस्तु को सामान्यात्मक ही मानता है; क्योंकि वह कहता है कि सामान्य से भिन्न विशेष कोई पदार्थही नहीं है।

३ व्यवहारनय, हर एक वस्तु को विशेषात्मक ही मानता है।

४ ऋजुसूत्र—अतीत और अनागत को नहीं मानता, केवल कार्यकर्ता वर्तमान ही को मानता है।

५ शब्दनय, अनेक पर्यायों (शब्दान्तर) से एक ही अर्थ का ग्रहण करता है।

६ समभिरूढनय, पर्याय के भेद से अर्थ को भी भिन्न कहता है।

७ एवंभूतनय, स्वकीय कार्य करनेवाली वस्तु ही को वस्तु मानता है।

इन सातो नयों का द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय में समावेश होता है। ये पूर्वोक्त नय परस्पर विरुद्ध रहनेपर भी मिलकर ही जैनदर्शन का सेवन * करते है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे संग्राम की युक्ति से पराजित समग्र सामन्त राजा परस्पर विरुद्ध रहनेपर भी एकत्रित होकर चक्रवर्ती राजा की सेवा करते हैं।

इनका विस्तारपूर्वक वर्णन नयचक्रसार और स्याद्वादरत्नाकर के सातवें परिच्छेद आदि में है; जिज्ञासु को वहाँ देखलेना चाहिये।

पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप को पूर्वोक्त प्रमाण और नय द्वारा जाननेवाला पुरुष, जैनशास्त्र में श्रद्धावान् माना गया है। श्रद्धा, रुचि या सम्यक्त्व ये पर्यायवाची शब्द हैं। सम्यक्त्ववान् जीव धर्म का अधिकारी होता है। धर्म के दो विभाग हैं; एक साधुधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म।

साधुधर्म दश प्रकार का माना गया है:—

---

* जैनस्तोत्रसंग्रह प्रथम भाग के ७० पृष्ठ में लिखा है।

सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते
संभूय साधुसमयं भगवन्! भजन्ते।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
पादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक्॥ २२॥

"खन्ति, मद्दव, अज्जव, मुत्ति, तव सजमे अ वोद्धव्वे ।
सच्च, सोअ, अकिंचण च बम्भ च जइधम्मो"

क्षान्ति (क्रोधाभाव), मार्दव (मानत्याग), आर्जव (निष्कपटता), मुक्ति (लोभाभाव), तप (इच्छाऽनुरोध), संयम (इन्द्रियादिनिग्रह), सत्य (सत्यबोलना), शौच (सब जीवों के सुखानुकूल वर्तना, अथवा अदत्त पदार्थ का ग्रहण नहीं करना), आकिञ्चन (सब परिग्रह का त्याग अर्थात् ममता से निवृत्ति), ब्रह्म (सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन) ये दश प्रकार के साधुधर्म है।

जैनसाधु लोग दशप्रकार के यतिधर्म पालने के लिये अर्हन्, सिद्ध, साधु, देव और आत्मा की साक्षी देकर जन-समुदाय के बीच में प्रतिज्ञापूर्वक पञ्चमहाव्रत को ग्रहण करते हैं, कि 'हम साधुधर्म अपने आत्मा के कल्याण के लिये मन, वचन और काय से पालन करेंगे'। जिन पञ्च-महाव्रतों को जैनशास्त्र में मूलगुण बताया है, उनकी व्याख्या क्रम से आगे की जाती है:—

१ अहिंसाव्रत उसे कहते हैं, जिसमें प्रमाद अर्थात् अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, योगदुष्प्रणि-धान, धर्मानादर से, त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा [प्राणवियोग] नहीं की जाती है।

२ सूनृत [सत्य] व्रत, प्रिय हितकारक वाक्य को कहते हैं; न कि जिससे किसी जीवपर आघात पहुँचे, या कटु हो।

३ अस्तेय व्रत वह है, जिसमें किसी प्रकार की चोरी न हो; क्योंकि मनुष्यों के बाह्य प्राण धनही हैं उसके हरण करने से मनुष्य के प्राणही हत होते हैं।

४ ब्रह्मचर्यव्रत–देव, मनुष्य और तिर्यञ्च से उत्पन्न होने-वाले १८ प्रकार के कामों से मन, वचन तथा काय से निवृत्त होना और करनेवालों को सहायता नहीं देना, यह कहलाता है।

५ अपरिग्रहव्रत, सर्वपदार्थों में ममत्व बुद्धि के त्याग को कहते हैं; क्योंकि असत् पदार्थों में भी मोह होने से चित्तभ्रम होता है।

मूलगुण के रक्षण के लिये उत्तरगुण [अष्टप्रवचनमाता के नाम से व्यवहृत] पाँच समिति और तीन गुप्ति कहलाते हैं। जिनके नाम ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति, पारिष्ठापनिकासमिति और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति है।

ईर्यासमिति, बराबर युगमात्र [साढ़े तीन हाथ] दृष्टी देकर उपयोगपूर्वक चलने को कहते हैं। समिति शब्द का अर्थ सम्यक् प्रकार की चेष्टा है।

भाषासमिति, उपयोगपूर्वक बोलने को कहते हैं।

एषणासमिति, बेयालीस दोषरहित आहार [भोजन] के ग्रहण करने को कहते हैं।

आदाननिक्षेपसमिति वह है, जिसमें संयमधर्म पालने में उपयोगी चीजों को देखकर और साफकरके (प्रमार्जन करके) ग्रहण या स्थापन किया जाता हो।

पारिष्ठापनिकासमिति उसे कहते है जहाँ किसी की हानि न हो ऐसे निर्जीवस्थल में मलमूत्रादि त्याज्य चीजें उपयोग (यत्न) पूर्वक छोड़ी जावें।

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—क्रम से मन, वचन और शरीर की रक्षा को कहते हैं। गुप्ति शब्द का अर्थ रक्षा करना, अर्थात् अशुभप्रवृत्ति से हटना है।

पूर्वोक्त पाँच समिति और तीन गुप्ति के विना पञ्च महाव्रत की रक्षा नहीं होसकती है और पञ्च महाव्रत के पालने के विना दश प्रकार के यति [साधु] धर्म का निभाना महा दुर्घट है।

गृहस्थ धर्म के द्वादश प्रकार ये हैं:—

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत।

इन बारहों का मूल सम्यक्त्व है।

पाँच अणुव्रत ये हैं;—

प्राणातिपातविरमण व्रत १, अर्थात् प्राणातिपात (जीवहिंसन) से स्थूलरीत्या विराम (निवृत्ति) होना। इसी रीति से मृषावाद (मिथ्याभाषण), अदत्तादान [नही दिये हुए पदार्थों का लेना], मैथुन (परस्त्रीसंभोग) और परिग्रह [विशेष वस्तुओं का संग्रह] से स्थूलरीत्या निवृत्ति होने को, क्रम से मृषावादविरमण व्रत २, अदत्तादान-विरमण व्रत ३, मैथुनविरमण व्रत ४ और परिग्रहविरमण व्रत ५ कहते हैं।

इन पाँच मूलव्रतों की रक्षा करने के लिये तीन गुण-व्रत और चार शिक्षाव्रत माने गये हैं।

उन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम क्रम से ये हैं:— दिग्व्रत १ [अपने स्वार्थ के लिये दशो दिशाओं में जाने आने के किये हुए नियम की सीमा को उल्लङ्घन नहीं करना]; भोगोपभोगनियम २ [भोग जो एक वार उप-योग में लाया जा सके, जैसे भोजन; उपभोग जो वारंवार काम में लाया जाय, जैसे वस्त्रादि। इन दोनों का नियम]; अनर्थदण्डनिषेध ३ [किसी भी निरर्थक क्रिया करने का निषेध] ये गुणव्रत हैं। और सामायिक १ [रागद्वेष रहित हो, सब जीवों पर समभाव होकर ४८ मिनट पर्यन्त एकान्त में बैठकर आत्मचिन्तन करना]; देशावकाशिक

२ [पूर्वोक्त दिग्विषय में कहे हुए नियम में और भी संक्षेप करना]; पौषध ३ [एक दिन अथवा अहोरात्र [आठ पहर] साधु की तरह वृत्ति धारण करना]; अतिथि संविभाग ४ [मुनियों को दिये बिना भोजन नहीं करना] ये शिक्षाव्रत हैं। इनका विशेष वर्णन जिज्ञासुओं को उपासकदशाङ्गसूत्र और योगशास्त्रादि ग्रन्थों में देख लेना चाहिये।

ऊपर के दोनों धर्मों का सेवन कर्मक्षय करने के लिये किया जाता है॥

जीव या आत्मा का मूल स्वभाव, स्वच्छ निर्मल अथवा सच्चिदानन्दमय है, किन्तु कर्मरूप पौद्गलिक बोझा चढ़ने से उसका मूलस्वरूप आच्छन्न अर्थात् ढक जाता है। जिस समय पौद्गलिक बोझा निर्मूल हो जाता है उस समय आत्मा, परमात्मा की उच्चदशा को प्राप्त करता है और लोकान्त में जाकर स्वसंवेद्य [उसीके जानने के योग्य] सुख का अनुभव करता है। लोक और अलोक की व्यवस्था हम पहिलेही कह चुके हैं। जीव और पुद्गल का संबन्ध किस रीति से हुआ इसका उत्तर जैनशास्त्रकार अनादि बतलाते हैं*।

---

* यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि कर्म का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है तो वह किस रीति से मुक्त हो सकता है, इसपर जैनशास्त्रकार यह उत्तर देते हैं कि जैसे स्वर्ण [सोना] और मृत्तिका का अनादि संबन्ध रहनेपर भी यत्नद्वारा मुक्त हो सकता है वैसेही शुभध्यानादि प्रयोग से आत्मा और कर्म का संबन्ध भी मुक्त होता है।

वे अनादि कर्म, जीव के साथ हमेशा के लिये संवन्ध नहीं रख सकते, लेकिन उनका परावर्तन [लौट पौट] आत्म-प्रदेश के साथ हुआ करता है। कर्मों को जीव किस तरह ग्रहण करता है और किस रीति उनसे मुक्त होता है, इसका विस्तार कर्मग्रन्थों में स्पष्ट रीति से लिखा हुआ है।

मूलकर्म एक जीव के ऊपर आठ प्रकार के होते है उनके नामः-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीयकर्म, मोहनीयकर्म, आयुष्ककर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, अन्त रायकर्म ।

किन्तु इन कर्मों के उत्तर भेद तो १५८ कहे हुए हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के उत्तर पॉच भेद हैं-मतिज्ञाना-वरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्य-यज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणिय। इन पूर्वोक्त पॉचो आवरणों के दूर होने से जैनशास्त्रकार पॉच ज्ञानों की प्राप्ति वताते हैं। उनके नाम-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, है। वास्तविक में तो केवल-ज्ञान के, बाकी चारों मतिज्ञानादिक अंश हैं। जैसे सूर्यपर जिस २ तरह मेघ का आवरण वढ़ता जाता है, उसी उसी तरह सूर्य का प्रकाश कम होता जाता है। वैसेही ज्ञान भी, न्यूनाधिक आवरण लगने से न्यूनाधिक प्रकाशित होता है,

इसलिये मतिज्ञानादि संज्ञा को प्राप्त होता है। इस विषय में कितनेक आचार्यों का भिन्न भिन्न मत है। वे लोग कहते हैं कि जैसे ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र वगैरह सूर्य के उदय होने के समय विद्यमान तो अवश्य रहते हैं किन्तु उनका उसके तेज के समीप प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसेही केवलज्ञान जब उदय होता है तब मतिज्ञानादिक ढक जाते हैं, किन्तु उनकी सत्ता तो अवश्य ही रहती है। पूर्व पाँचो ज्ञानों में तारतम्य, आवरण के क्षयोपशम को लेकर माना गया है। हमलोग साक्षात् अनुभव करते है कि वादी और प्रतिवादि के संवाद में वादी पदार्थ को अच्छी तरह जानते हुए भी बहुधा उस समय भूल जाता है; इसमें आवरण के सिवाय कोई दूसरा और कारण नहीं है।

इसीरीति से दर्शनावरणीय कर्म के भी उत्तर ९ भेद है। समय के अत्यन्त कम होने से यहाँ उनके नाममात्र कहकर सन्तोप करना पड़ता है।

१ चक्षुर्दर्शनावरणीय, २ अचक्षुर्दर्शनावरणीय, ३ अवधिदर्शनावरणीय, ४ केवलदर्शनावरणीय, ५ निद्रा, ६ निद्रा-

निद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि ये उनके नाम हैं * ॥

वेदनीयकर्म के शातावेदनीय, अशातावेदनीय दो भेद हैं।

चौथा मोहनीयकर्म § है—जिसके, चार प्रकार के क्रोध, चार प्रकार के मान, चार प्रकार की माया और चार प्रकार के लोभ; एवं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुर्गञ्छा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, ये सब मिल के अट्ठाईस भेद हैं।

पाँचवां आयुष्ककर्म है। इसके देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु, नरकायु के नाम से चार भेद है।

छठा नामकर्म है, जिसके उदय से जीव, गति और जाति आदि पर्यायों का अनुभव करता है। इसके १०३

---

* लोकप्रकाश के ५८४ पृष्ठ में लिखा है—

सुखप्रबोधा निद्रा स्याद् सा च दुःखप्रबोधिका।
निद्रानिद्रा प्रचला च स्थितस्योर्द्ध्वस्थितस्य वा ॥१॥
गच्छतोऽपि जनस्य स्यात् प्रचलाप्रचलाऽभिधा।
स्त्यानर्द्धिर्वासुदेवार्द्धबलाऽहश्चिन्तितार्थकृत् ॥२॥

§ मोहयति विवेकविकलं करोति प्राणिनमिति मोहः (मोहनीयम्)।

भेद हैं, किन्तु थोड़े समय में उनका निरूपण नहीं किया जासकता ।

सातवाँ गोत्रकर्म वह है, जिसके उदय होने से नीच, उच्च गोत्र की प्राप्ति होती है ।

आठवाँ अन्तराय कर्म है; जिसके उदय होने पर जीवों के दानादि करने में अन्तराय [विघ्न] होता है; इसके दानान्तराय १ लाभान्तराय २ भोगान्तराय ३ उपभोगान्तराय ४ वीर्यान्तराय ५ रूप से पाँच भेद हैं ।

राग और द्वेष की परिणति से आठ कर्मों का वन्धन होता है । हमने जिनको कर्म के नाम से कहा है, इनको अन्यदर्शनकार--अदृष्ट, प्रारब्ध, संचित, दैव, प्रकृति, तथा माया के नामों से कहते हैं ।

किन्तु यह वात प्रसिद्ध है कि ऐसे गहन पदार्थों की विवेचना में जैनशास्त्रकार परम उच्चकोटी को पहुँचे हैं ।

कर्म का पर्दा जबतक आत्मापर रहता है तबतक वह संसारी अथवा चार गति में फिरनेवाला माना जाता है और उस पर्दा के सर्वथा दूर होनेपर मोक्षगामी अथवा सिद्ध कहा जाता है । सिद्धजीव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्तवीर्यादि से युक्त होजाता है । यहांपर यह शङ्का उठ सकती है कि ज्ञान तो अरूपी पदार्थ

है उसका अनन्त व्यवहार कैसे होसकता है। इसका उत्तर यह है कि–ज्ञेय पदार्थ के अनन्त होने से तद्विषयक ज्ञप्ति को भी अनन्त मानने में किसी प्रकार की हानि नहीं होसकती। एवंरीत्या दर्शन, चारित्र और वीर्यादि में भी समझलेना। जैनशास्त्रकार मोक्ष में संसारी सुख से विलक्षण सुख मानते हैं। जिस तरह कोई पुरुष–आधि, व्याधि, उपाधि ग्रस्त होकर दुःख का अनुभव करता है और उससे मुक्त होनेपर सुख का अनुभव करता है; उसीतरह आत्मा के ऊपर जहाँतक कर्म का पर्दा पड़ा हुआ है वहाँतक सांसारिक सुख और दुःख का अनुभव करता है और कर्म का पर्दा दूर होनेपर वास्तविक, निर्बाध, अनुपमेय, स्वसंवेद्य सुख का अनुभव करता है। साङ्ख्यदर्शनकार प्रकृति के वियोग में मोक्ष मानते हैं और नैयायिकों ने दुःखध्वंसरूपही मोक्ष माना है, तथा वेदान्ती [अध्यास से मुक्त] ब्रह्मही को मुक्ति का स्वरूप कहते हैं, एवं बौद्ध पञ्चस्कन्धरूप दुःख, रागादिगण और क्षणिकवासनास्वरूप मार्ग के निरोध को मोक्ष मानते हैं।

मुक्ति पदार्थ को आस्तिकमात्र मानते हैं, परञ्च जैनेतर मतों में एक संप्रदाय में भी अनेक स्वरूप मुक्ति के माने गये हैं; किन्तु जैनमत में अनेक संप्रदाय रहनेपर भी

मुक्ति के स्वरूप में भेद नहीं है। मुक्ति का स्वरूप आगम प्रमाण से सिद्ध होता है। अन्त में जैनचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि–मोक्ष के साथ उपमादेनेलायक पदार्थ न मिलने से कल्पित दृष्टान्त देकर सत्य वस्तु को सत्याभास बनाना ठीक नहीं है, क्योंकि इस संसारमें बहुतसी ऐसी वस्तुएं हैं जो देखी और अनुभव की गयी हैं लेकिन उनकी उपमा किसीके साथ नहीं दी जा सकती; तो मोक्ष यदि अनुपमेय हो तो आश्चर्य ही क्या है?। इसमें दृष्टान्त यह है-जैसे घृत [घी] पदार्थ को सभी-मूर्ख से लेकर पण्डित तक-जानते हैं, किन्तु उसका स्वाद क्या है, यह यदि उनसे पूछा जाय तो कुछ नही बतला सकेंगे और उसके स्वाद के साथ तुलना करने के लिये कोई दृष्टान्त भी नहीं दे सकेंगे, तो फिर अरूपी और अप्रत्यक्ष पदार्थ की बातही क्या है?।

जैनदर्शन में साधुधर्म और गृहस्थधर्म दोनों मोक्ष के लिये माने गये हैं। यदि मोक्ष की सामग्री न बन सकेगी, तो पुण्य के उदय होने से देवगति प्राप्त होगी। देवताओं के चार विभाग किये गये हैं। जिनमें प्रथम भवनपति, दूसरा व्यन्तर, तीसरा ज्योतिष्क और चौथा वैमानिक बताया गया है। जैसी शुभ क्रिया होती है वैसी ही गति भी होती है; क्योंकि कहा हुआ है "या मतिः सा गतिः"।

यदि कदाचित् स्वर्ग जाने के योग्य पुण्य का बन्धन न हुआ तो जीव मनुष्यगति को प्राप्त होता है और मनुष्य पैंतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं, उसे जैनशास्त्रकार ढ़ाई द्वीप मानते हैं। उसमें भी यदि उत्पन्न न हुआ तो तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की गति मिलती है। उसके बीस भेद बताये गये हैं। वे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, जैनशास्त्रानुसार तिरछे लोक के असङ्ख्य द्वीप और समुद्रों में उत्पन्न होते हैं। यदि पञ्चेन्द्रिय की भी गति न हुई तो समझना चाहिये कि पुण्य के बदले प्रमादाचरण से पापों का बन्धन किया गया है; उस पाप के कारण से जीव को चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय की गति मिलती है। वे प्रायः ऊँचे, नीचे अथवा तिरछे लोको में उत्पन्न होते है। उससे भी अधिक जब पाप का बन्धन होता है तो नरकगति में जीव को जाना पड़ता है। नरक के सात भेद हैं; उनमें उत्तरोत्तर अधिक दुःख भोगना पड़ता है। उसके यहाँ प्रतिपादन करने में बहुत तूल होगा, इसलिये जिज्ञासुओं को चाहिये कि लोकप्रकाश और सूत्रकृताङ्ग में देख लेवें।

कर्म के बन्धन में चार कारण-मिथ्यात्व प्रमाद, अविरति और योगनाम से कहे गये हैं। असत्य को सत्य ओर सत्य को असत्य समझना मिथ्यात्व कहलाता है। नशे की

चीजें पीना और विषय का सेवन; कषाय [क्रोधादि] करना, निद्रा और विकथा [कुत्सित कथा] आदि का करना यही प्रमाद है। धर्मशास्त्र की कर्यादा से रहित बर्ताव करना अविरति कहलाती है। चार प्रकार मन की, चार प्रकार वचन की और सात प्रकार काया की शुभाशुभरूप प्रवृत्ति से, योग के पन्द्रह प्रकार माने गये हैं।

ये पूर्वोक्त चार प्रकार के कारण से कर्म, आत्मा के साथ संबद्ध होता है। कर्मबन्धन के चारो कारण से दूर रहने के लिये अर्हनदेव ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग बताये हैं। उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग को निवृत्तिमार्ग का कारण मानकर शुद्ध प्रवृत्तिमार्ग का सेवन जीव को किस प्रकार करना चाहिये इस बात को केवल ज्ञान द्वारा जानकर; जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, * संवर, * बन्ध, * निर्जरा *

---

* योगशास्त्र के विवरण के ११४ पृष्ठ मे ये सब लिखे हैं:—

'मनोवचनकायानां यत्स्यात् कर्म स आश्रवः'। 'सर्वेषामाश्रवाणां यो रोधहेतुः स संवरः'। 'कर्मणां भवहेतूना जरणादिह निर्जरा' 'सकपायतया जीवः कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान् यदादत्ते स बन्ध. स्यात्'॥

‡ १ मिथ्यात्व २ सास्वादन ३ मिश्र ४ अविरतिसम्यग्दृष्टि ५ देशविरति ६ प्रमत्त ७ अप्रमत्त ८ निवृत्तिवादर ९ अनिवृत्तिवादर १० सूक्ष्मसंपराय ११ प्रशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगी १४ अयोगी नामक चौदह सीढ़ी अर्थात् १४ गुणस्थानक हैं।

और मोक्ष का स्वरूप बताकर मोक्षरूप महासुन्दर महलपर चढ़ने के लिये १४ सोपान [सीढ़ी] की श्रेणी [परम्परा] बताई हैं + । दस सीढ़ीपर्यन्त शुद्ध प्रवृत्ति की आवश्यकता है, उसके बाद निवृत्ति मार्ग की प्राप्ति कही गई है। पूर्वोक्त नव तत्त्वों के शुद्ध स्वरूप को जाननेवाला चौथी सीढ़ी पर है; उसको जैनशास्त्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कहते हैं। उसके आगे बढ़ने पर त्यागवृत्ति अंशतः जब आती है तो वह गृहस्थ धर्मवान् श्रावक कहलाता है और उससे आगे बढ़ा हुआ सर्वांशत्यागी जैन मुनि माना जाता है। उससे भी अधिक २ गुण बढ़ने से दशवीं सीढ़ी में जानेपर समस्त क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का नाश होता है; एवं उसके आगे बढ़ा हुआ योगीन्द्र और उसके आगे केवली माना जाता है।

केवली दो प्रकार के होते हैं; एक सामान्य केवली और दूसरा तीर्थंकर। इन दोनों में ज्ञानादि अन्तरंग लक्ष्मी बराबर रहने पर भी जिन्होंने जन्मान्तर में बड़े पुण्य को उपार्जन [संचय] किया हो, वही 'तीर्थंकरनामकर्म रूप पुण्यसंचय होने से तीर्थङ्कर कहलाते हैं और वे राग, द्वेष आदि अठारह* दूषणों से रहित होते हैं।

---

*- अभिधानचिन्तामणि देवाधिदेवकाण्ड के १३ में पृष्ठ में लिखा है:-

पूर्वोक्त आठ कर्मों का केवलज्ञानोत्पत्ति के समय में क्षय होता है; किन्तु नामकर्म, आयुष्ककर्म, वेदनीयकर्म, गोत्रकर्म बाकी रहते हैं, उनकी स्थिति जबतक है तबतक शरीरधारी होने से आहार लेना, विहार करना, उपदेश देना आदि क्रिया, अवशिष्ट कर्म के क्षय [नाश] के वास्ते ही की जाती हैं।

अग्लानि से भाषावर्गणा [शब्दसमूह] के पुद्गल के क्षय करने के निमित्त तीर्थंकर उपदेश करते हैं और उस उपदेश पर गणधरलोग द्वादश अङ्ग [द्वादशाङ्ग] ‡ बनाते हैं।

इस समय में उन अङ्गों में से ग्यारह अङ्ग तो विद्य-मान हैं किन्तु बारहवाँ दृष्टिवादनामक अङ्ग अब नहीं मिलता। ग्यारह अङ्ग अब जो विद्यमान हैं उनको हमलोग मानते हैं, किन्तु दिगम्बरों ने इन मूल सूत्रों को विच्छिन्न मानकर

अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ ७१ ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ ७२ ॥

‡ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ भगवतीसूत्र, ६ ज्ञाताधर्मकथा, ७ उपासकदशाङ्ग, ८ अन्त-कृतदशाङ्ग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाकश्रुत, १२ दृष्टिवाद, ये बारह अङ्ग हैं।

दूसरे ही शास्त्र माने हैं। लेकिन हमारे मूलसूत्र में लिखी हुई बहुतसी बातें उनमें नहीं पाई जाती हैं। जैसे मङ्खलीपुत्र गोशाल का सम्बन्ध * मूलसूत्र में है, किन्तु दिगम्बरों के किसी ग्रन्थ में यह बात नहीं लिखी है। मङ्खली गोशाल का वृत्तान्त बौद्धों के 'पिटक' ग्रन्थों में भी पाये जाने से यह सिद्ध होता है कि यह मूलसूत्र वही हैं। हमारे आगमों की रचना का समय २२०० बाईस सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन है, यह बात आचाराङ्गसूत्र के अङ्गरेजी तर्जुमे की भूमिका [प्रिफेस] में लिखी हुई है। दिगम्बरों के साथ हम-लोगों का पदार्थ के मन्तव्य में विशेष फेरफार नहीं है, किन्तु क्रियाविभाग में बहुत फेरफार है। दोनों पक्षों में चौवीस तीर्थंकर † माने गये हैं और षट्द्रव्य, दो प्रमाण,

---

* मङ्खलीपुत्र गोशाल ने भी महावीरस्वामी के समय में 'आजीविक' पन्थ निकाला था। इसका विशेष वृत्तान्त भगवतीसूत्र में जिज्ञासुओं को देखना चाहिये।

† इस वर्तमान चौवीसी के तीर्थङ्करों के नामे ये हैं—

श्रीऋषभदेव १ अजितनाथ २ संभवनाथ ३ अभिनन्दन-स्वामी ४ सुमतिनाथ ५ पद्मप्रभ ६ सुपार्श्वनाथ ७ चन्द्रप्रभ ८ सुविधिनाथ ९ शीतलनाथ १० श्रेयांसनाथ ११ वासुपूज्य-स्वामी १२ विमलनाथ १३ अनन्तनाथ १४ धर्मनाथ १५ शान्तिनाथ १६ कुन्थुनाथ १७ अरनाथ १८ मल्लिनाथ १९ मुनिसुव्रतस्वामी २० नमिनाथ २१ नेमिनाथ २२ पार्श्वनाथ २३ महावीरस्वामी २४।

सप्तभङ्गी, नय, नवतत्त्व, स्याद्वाद, गृहस्थ धर्म और साधु-धर्म तथा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.' इत्यादि उमा-स्वाति वाचक के कथन को और मूर्तिपूजादि को समान मानते हैं। किन्तु दिगम्बरमतावलम्बी लोग, साधुओं और तीर्थकरों को दिगम्बर [वस्त्ररहित] बताते हैं और हम-लोग उनको वस्त्रधारी मानते हैं। सूत्रों में दो प्रकार के साधु बताये गये हैं; एक जिनकल्पी, दूसरे स्थविरकल्पी। जिनकल्पियों के भी अनेक भेद लिखे हैं; उनमें कितनेक वस्त्ररहित बताये गये हैं। परन्तु वह मार्ग इस समय विच्छिन्न हो गया है, केवल स्थविरकल्पी मार्गही इस समय प्रचलित है।

जिनकल्पी व्यवहार, पहिले मुनिलोग, क्लिष्टकर्म के क्षयार्थ स्वीकार करते थे; परन्तु उनको उस जन्म में केवल-ज्ञान प्राप्त नहीं होता था। इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन पञ्चवस्तुकादि ग्रन्थों में प्रतिपादन किया हुआ है। हमारे देवाधिदेवों की मूर्ति में कच्छ [लँगोट] का चिह्न रहता है और दिगम्बरों की मूर्ति वस्त्ररहित रहती है। दोनों पक्ष के लोग अर्हन्देव को ही ईश्वर मानते हैं।

अर्हन्देव ने इस संसार को, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि बताया है क्योंकि नतो जगत् का कोई कर्ता

हर्ता है और न कोई जीवों को सुख, दुःख देनेवाला है, केवल अपने २ कर्म के अनुसार जीवमात्र सुख दुःख का अनुभव करते हैं ।

बहुत से दर्शनानुयायी ईश्वरपर भार रख के 'ईश्वर की मरजी' ऐसा कहकर अपने पुरुषार्थ की अवनति करते हैं । वास्तविक में किसी का ईश्वर भला बुरा नही करता, क्योंकि ईश्वर में भले बुरे करने का कारण राग द्वेष नहीं है ।

यहाँ ऐसी शङ्का का प्राप्त होना स्वाभाविक है कि ऐसे वीतराग के मानने से फिर फायदा ही क्या है ? । इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि आशय की शुद्धता और अशुद्धता पर कर्मबन्ध होता है । वीतराग का ध्यान करता हुआ वीतराग होता है और रागवान् का ध्यान करते हुए रागी होता है । यद्यपि जैसे वीतराग, वीतरागपन को नहीं देता उसीतरह रागवान्, रागपनको भी नहीं देता; किन्तु अध्यवसाय से फल होता है । सामान्य से जीवों के अध्यवसाय छः प्रकार के माने गये हैं । इसका जैनदर्शन में 'लेश्या'*

---

* लिश्यन्ते कर्मणा सह जीवा आभिर्लेश्या ।

अर्थात् जिससे कर्म के साथ जीव का बन्धन हो उसका नाम लेश्या है । कृष्णलेश्या १ नीललेश्या २ कापोतलेश्या ३ पीतलेश्या ४ पद्मलेश्या ५ शुक्ललेश्या ६ के नाम से छः प्रकार की लेश्या हैं । इनके लक्षण येहैं:—

नाम लिखा हुआ है। लेश्या के कारण, वन्ध जुदे २ प्रकार के होते हैं। इसी कारण से जगत् में विचित्र प्रकार के जीव दिखलाई पड़ते हैं। अत एव अध्यवसाय की शुद्धि के लिये वीतराग का पूजन अत्यावश्यक है।

जैनमत में रागद्वेषवाले को ईश्वर नहीं मानते।

जगदादिरूप कार्य की उत्पत्ति में अवान्तर प्रलय माननेवाले नैयायिक तीन कारण मानते हैं। १ समवायी जैसे परमाणु, २ असमवायी जैसे द्व्यणुकादिसंयोग और तीसरा निमित्तकारण ईश्वर, अदृष्ट और कालादि को मानते

अतिरौद्रः सदा क्रोधी मत्सरी धर्मवर्जितः।
निर्दयो वैरसंयुक्तः कृष्णलेश्याऽधिको नरः॥ १॥
अलसो मन्दबुद्धिश्च स्त्रीलुब्धः परवञ्चकः।
कातरश्च सदा मानी नीललेश्याऽधिको भवेत्॥ २॥
शोकाकुलः सदा रुष्टः परनिन्दाऽऽत्मशंसकः।
संग्रामे प्रार्थते मृत्युं कापोतक उदाहृतः॥ ३॥
विद्यावान् करुणायुक्तः कार्याकार्यविचारकः।
लाभालाभे सदा प्रीतः पीतलेश्याऽधिको नरः॥ ४॥
क्षमावांश्च सदा त्यागी देवार्चनरतोद्यमी।
शुचिर्भूतसदानन्दः पद्मलेश्याऽधिको भवेत्॥ ५॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः शोकनिन्दाविवर्जितः।
परमात्मत्वसंपन्नः शुक्लेश्यो भवेन्नरः॥ ६॥

हैं। इसमे पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से पूर्वोक्त परमाणु, द्व्यणुकादि संयोग, काल तथा अदृष्ट के कारण' मानने में जैनमतानुयायियों को विवाद नही है, परन्तु ईश्वर को निमित्तकारण नहीं मानते हैं, क्योंकि कृतकृत्य ईश्वर को दुनिया के फन्द में डालना उचित नहीं है।

हमलोग कार्य की उत्पत्ति में १ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ पुरुषाकार और ५ कर्म ये पॉच कारण मानते हैं। इनमें यदि एक की भी कमी हो तो कोई कार्य नहीं हो सकता।

पाँचो के कारणत्व में दृष्टान्त इस रीति से रखिये:—

जैसे स्त्री बालकको जन्म देती है तो उसमें प्रथम काल की अपेक्षा है, क्योंकि विना काल के गर्भ धारण नहीं कर सकती। दूसरा स्वभाव कारण है, यदि उसमें बालक उत्पन्न होने का स्वभाव होगा तो उत्पन्न होगा नहीं तो नहीं। तीसरा अवश्यंभाव; यदि पुत्र उत्पन्न होनेवाला होगा तभी होगा। पुरुषाकार (उद्यम) भी उसमें दरकार है क्योंकि कुमारि कन्या के पुत्र नहीं होसकता। काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ रहने पर भी यदि भाग्य (कर्म) में होगा तो होगा, नहीं तो तमाम कारण निष्फल हो जायँगे।

केवल भाग्यही पर आधार रखकर बैठने से कार्य नहीं होसकता, जैसे तिल में तेल है परन्तु उद्यम के विना नहीं मिल सकता है। यदि उद्यम ही फलदायक माना जाय, तो उन्दुर (मूसा) उद्यम करता हुआ भी सर्प के मुख में जा पड़ता है, इसलिये उद्यम निष्फल है। यदि भाग्य और उद्यम दोही से कार्य माना जाय तो भी ठीक नहीं होसकता है, क्योंकि कृपीवल [खेतिहर] विना समय सत्तावान् वीज को उद्यम पूर्वक वोवे तो भी वह फलीभूत नहीं होगा; क्योंकि काल नही है। यदि इन तीनों ही को कार्य के कारण मानें, तो भी ठीक नही हो सकता, क्योंकि छरमूँग [जो मूँग चुराने से नहीं चुरती] के वोने से काल, भाग्य, पुरुषार्थ के रहने पर भी उगने का स्वभाव न होने से पैदा नही होती। यदि पूर्वोक्त तीन में चौथा स्वभाव भी मिला लिया जाय, तोभी यदि होनेवाला नहीं है तो कभी नहीं होता, जैसे कि कृपीवल ने ठीक समय पर वीज वोया, तो वीज में सत्ता भी है और अङ्कुर [कुला] भी फूटा, लेकिन यदि धान्य होनेवाला नहीं है तो कोई न कोई उपद्रव से नष्ट होजायगा। इसलिये पाँचो कारणों के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

मोक्ष की सिद्धि के लिये बारह प्रकार की तपस्या* भी बताई हुई है। जिसके अनशनादि छः बाह्य और प्रायश्चित्तादि छः आभ्यन्तर भेद हैं। इन बाह्याभ्यन्तर तपस्याओं के करने से जो कर्म का नाश होता है उसको निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक सकामनिर्जरा, दूसरी अकामनिर्जरा। अकामनिर्जरा प्राणिमात्र को होती है किन्तु सकामनिर्जरा मोक्षाभिलाषी प्राणियों को ही होती है और सकामनिर्जरा करनेवाले जीव शीघ्र मोक्षगामी होते हैं। जैनेतर तामली, पूरण, कमठादि तापस भी सकामनिर्जरावान् माने गये हैं, क्योंकि पूर्वोक्त अनशनादि बाह्य तप को वे लोग भी करते थे। जैननामधारी होके जो कर्मक्षयनिमित्तक पूर्वोक्त तपस्या को नहीं करेंगे, वे सकामनिर्जरा के भागी नहीं होंगे। इस बात को जैनाचार्यों ने स्पष्टरूप से कहा है। इनके लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य चार प्रकार की भावनाओं के बतानेवाले तीर्थङ्कर महाराजों ने स्वयं इन भावनाओं को चण्डकौशिक

---

* योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में लिखा हुआ है.—

अनशनमौनोदर्य, वृत्तेः संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तपः ॥८९॥
प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्यं स्वाध्यायो विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं षोढेत्याभ्यन्तरं तपः ॥९०॥

[सर्प] और गोपालदारकादि के किये हुए उपसर्ग में चरितार्थ करके, जीवों को उपदेश दिया है—कि यदि तुम-लोग निःसीम शान्ति की अभिलाषा रखते हो तो पूर्वोक्त चारों भावनाओं* को अपने हृदय में धारण करके समस्त जीवोंपर शान्ति का सिञ्चन करो।

इसी शान्ति के प्रतिपादक मन्त्रों को नित्य पाठ करने के लिये हम लोगों को भी उपदेश दिया है:—

"श्रीश्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु। श्रीजनपदाना शान्तिर्भवतु।
श्रीराजाधिपाना शान्तिर्भवतु। श्रीराजसन्निवेशाना शान्तिर्भवतु॥
श्रीगौष्टिकाना शान्तिर्भवतु। श्रीपौरमुख्याणा शान्तिर्भवतु।
श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु। श्रीब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु।"

---

* योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में लिखा हुआ है:—
मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखित.।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥ ११८॥
अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्त्तितः॥ ११९॥
दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥ १२०॥
क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्॥ १२१॥

इसप्रकार सर्वत्र शान्ति रखने के कारण को विज्ञपुरुष सहज में समझ जॉयगे, तथापि कुछ स्पष्ट कर देना अयोग्य नही गिना जायगा। जबतक राजा को शान्ति न होगी, तब तक सामान्य राजाओं में भी शान्ति नहीं होसकती और राजा को अशान्ति होने से प्रजा को भी शान्ति नहीं होगी; यह तो स्पष्टही है। इसी प्रकार एक की अशान्ति, उत्तर उत्तर अनेक की अशान्ति का कारण होजाती है। अब इतने लोगों पर शान्ति स्थापन करने का हमलोगों के शास्त्रकारों का क्या कारण है सो तो आपलोगों की समझ में आही गया होगा।

जो साधुओं के पॉच महाव्रत और श्रावक [गृहस्थ] के बारह नियम हैं, उन सब का उद्देश्य अहिंसारूप पुष्पवाटिका की रक्षा ही है, यह बात विचारकरनेपर स्पष्ट होती है। तथापि इस बात को थोड़ा स्पष्ट करदेना उचित है। देखिये ! असत्य बोलने से संमुखस्थ पुरुष को दुःख होता है और दुःख उत्पन्न होना ही हिंसा है, इसी रीति से चोरी आदि में भी जानलेना।

मुनिलोग त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की रक्षा करने के उद्देश्य से ही हर एक प्रयत्न को करते है।

गृहस्थ, स्थावर रक्षा में यत्नपूर्वक त्रस की रक्षा करते है।

यहाँ एक वातपर आपलोगों को अवश्य ही ध्यान देना चाहिये कि जैनों की अहिंसा की व्याख्या का अनेक अनजान मनुष्यों ने उलटा ही तात्पर्य समझा है। हम पहले कह चुके हैं कि कितनेलोग देशोन्नति की वाधा में जैनों की अहिंसा को ही अग्रणी मानते हैं; परन्तु यह एक वडी भारी भूल है, जिसके स्पष्ट किये विना यह निवन्ध [व्याख्यान] पूरा नहीं किया जा सकता। हमारे जैनशास्त्रानुसार अहिंसाविपयक आज्ञा की सीमा वहाँतक ही समझनी चाहिये, जिससे कि निर्दोप रीति से अन्य के दुःख को विना उत्पादन किये विहार करनेवाले निरपराधी जीव की हिंसा न कीजावे। राजा भरत ऐसे प्रवल चक्रवर्त्ती, कि जिनलोगों ने अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिये हजारों वर्प भयङ्कर युद्ध किया था; वे भी परम जैन माने जाते हैं; इतना ही नहीं, किन्तु उनका उसी जन्म में मोक्ष माना गया है। इस वात से जो जैनप्रजापर देश की अवनति का दोप लगाया जाता है, वह इससे निवृत्त हो जायगा ऐसा हम निश्चय करते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि जैनधर्म के पालन करनेवाले और उपदेशक पूर्वकाल में क्षत्रियादि थे; जिन प्रवल उपदेशकों के प्रताप से हम अपना गौरव इस समय में भी

स्थिर रख सके हैं। इस विषय की ऐतिहासिक प्रमाणें इतिहास में बहुत प्रामाणिक रीति से दी गई हैं, परन्तु उसकी विवेचना करके हम आपलोगों का अब धैर्य नहीं हटायेंगे ॥

अब मैं स्याद्वाद का दिग्दर्शन मात्र कराना चाहता हूँ:-

स्याद्वाद का अर्थ अनेकान्तवाद है। अर्थात् एक वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व; सदृशत्व, विरूपत्व; सत्त्व, असत्त्व; और अभिलाप्यत्व, अनभिलाप्यत्व इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्मों का सापेक्ष स्वीकारही स्याद्वाद [अनेकान्तवाद] कहलाता है।

आकाश से लेकर दीप [दीपक] पर्यन्त समस्त पदार्थ नित्यत्वानित्यत्वादि उभय धर्म युक्त हैं। इसके विषयं में अनेक युक्तियुक्त प्रमाण, स्याद्वादमञ्जरी और अनेकान्तजयपताका प्रभृति ग्रन्थों में लिखे हैं। हम को अनेक दर्शन देखनेपर यह बात विदित हुई है कि हमारे जैनशास्त्रकारही ने स्याद्वाद नहीं माना है, किन्तु अन्यदर्शनकारों ने भी प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है। इसपर आप लोग थोड़ी देर ध्यान दीजिये। देखिये! प्रथम साङ्ख्य को ही लीजिये; उसने भी सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था को प्रधान माना है। इसलिये उसके मत मे

भी प्रसाद, संतोष, तथा दैन्य वगैरह भिन्न २ स्वभाववाली अनेक वस्तुओं का एक प्रधान स्वरूप स्वीकार किया गया है, इसका नाम स्याद्वाद छोड़कर और क्या हो सकता है ? । इसीरीति से नैयायिकों को लीजिये; वे भी द्रव्यत्वादि को, अनुवृत्ति (एकाकार प्रतीति) और व्यावृत्ति [भिन्न प्रतीति] के ज्ञान के विषय होने से, सामान्य तथा विशेष रूप मानकर अनेकान्तवाद अर्थतः स्वीकार करते हैं। बौद्धों ने भी एक चित्रपट [वस्त्र] के भीतर नील, पीत आदि नाना आकारवाले ज्ञान को स्वीकार करके भङ्ग्यन्तर से स्याद्वाद स्वीकार किया है ॥

जैनधर्म अनादि है, और सब प्रकार के दर्शनों से सर्वथा स्वतन्त्र* है, यह बात पूर्वोक्त विवेचना से आप लोगों को स्पष्ट हो गई होगी।

---

* In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

Read in the congress of the History of Religions

BY H JACOBI.

जैनतत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में हमको एक वात याद आती है कि जैसे आज कल पदार्थविज्ञानवादी लोग साइन्स [पदार्थविज्ञानविद्या] से सूक्ष्मदर्शक [दूरवीन आदि] यन्त्रादि द्वारा नये २ आविष्कार करके जनसमाजको चकित करते हैं, वैसेही अतीन्द्रिय पदार्थ के विवेचक आज से हजारों वर्ष के पहिले विना किसी यन्त्रादि साधन के हमारे शास्त्रकार जल और मक्खन तथा पौधे आदि में जीव की सत्ता वता गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि हमारे शास्त्रीय विषय, तत्त्वज्ञान से भरपूर हैं; कमी इतनी ही है कि हमारा प्रमाद [आलस्य] ही हमको हर एक रीति से आगे उच्च-श्रेणीपर बढ़ने के लिये अटकाये हुए है।

अन्त में ऐसी प्रार्थनापूर्वक हम अपने व्याख्यान की समाप्ति करते हैं कि:—

'न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभमाश्रिता स्मः' ॥ १ ॥

॥ इति ॥